THE ECONOMIC TIMES

Date: 20-02-17

Justice system should be put under trial if it takes 12 years to acquit a man

It took nearly 12 years for a trial court to determine the inadequacy of the evidence tying Mohammad Rafiq Shah and Mohammad Hussain Fazili to the 2005 serial terror blasts in Delhi.

The onus of proving guilt lies with the prosecution. In this case, however, the prosecution was unable to provide clear evidence of the guilt of the two men identified by the investigating agencies. Moreover, the prosecution appears to have taken deliberate pains to ignore and later destroy his alibi of being in class when he was supposed to be planting a bomb in a bus and relied on contradictory evidence from witnesses. The verdict is an indictment of the functioning of the police and its method of prosecution and of the delay that proverbially denies justice on the part of the court.Those acquitted have lost out on years of their lives, the victims and their families have no sense of closure, and perpetrators of the crime go unpunished. This is a story that is repeated often enough. It is, therefore, time to revisit manner in which investigations are conducted. Proper protocol must be observed in every step of the investigation: securing the crime scene, proper collection and securing of evidence, forensic evaluations, logical questioning of suspects and witnesses, and fair and robust investigation helps improve outcomes.Robust, rule-based investigation is only half of the story. For justice to be served, courts too need to ensure that cases are heard in a time-bound manner. Inordinately long delays in disposing of cases increase the possibilities of miscarriage of justice. When evidence comes to light of mala fide prosecution efforts, cases should be filed against the cops involved. It is not enough for judicial criticism to figure in the verdict dismissing charges.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 20-02-17

मजदूरों के हित में नई राह पर चलने की जरूरत

श्रम संगठनों को मौजूदा दौर के हिसाब से खुद को ढालना होगा तभी उनकी प्रासंगिकता बनी रहेगी। दलील दे रहे हैं मनीष सभरवाल और सोनल अरोड़ा

भारत में मजदूर संगठनों की सदस्यता का अनुपात अमेरिका और ब्रिटेन जैसे समृद्ध देशों से भी अधिक है। अमेरिका में केवल 10 प्रतिशत मजदूर ही इन संगठनों का हिस्सा हैं जबकि ब्रिटेन में यह संख्या महज सात फीसदी है लेकिन भारत में कुल श्रमशक्ति का 15 फीसदी हिस्सा मजदूर संगठनों से जुड़ा है। हालांकि मजदूर संगठनों में हिस्सेदारी के पैमाने पर भारत अमेरिका और ब्रिटेन से पीछे नजर आता है। आखिर इसकी क्या वजह है? इनका हांफना या विश्वासघात या इसे गुजरे जमाने की बात लेना? मजदूर संगठनों का अवसान आसन्न है लेकिन अपरिहार्य नहीं है। हमें वैकल्पिक भविष्य के बारे में सोचना होगा क्योंकि मजदूर संगठन किसी भी नागरिक समाज का अहम हिस्सा हैं और उसका क्षय होना हत्या नहीं बल्कि आत्महत्या जैसा है। जैसे प्रभावी सरकारें कारोबार समर्थक न होकर बाजार समर्थक होती हैं, उसी तरह मजदूर संगठनों को भी नियोक्ताओं पर नहीं बल्कि कर्मचारियों पर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए मजदूरों के बीच उभरने वाले आंशिक अभिजनवाद को भूलकर अधिकांश कर्मचारियों के वेतन में न्यायोचित बढ़ोतरी को मुद्दा बनाया जाना चाहिए। इसके लिए अधिकतम श्रम शक्ति को संगठित दायरे में लाने, शहरीकरण को बढ़ावा देने और उनकी कार्यकुशलता को बढ़ावा देने के तरीके अपनाए जा सकते हैं।धनी देशों में श्रम संगठनों की गतिविधियों में आई गिरावट के लिए अक्सर वैश्वीकरण को जिम्मेदार बताया जाता है। शायद यह सही भी है। कम कुशल और ग्रामीण आबादी की मजदूरी पर व्यापार और आव्रजन के चलते होने वाले असर को ब्रेक्सिट और डॉनल्ड ट्रंप जैसे कारकों से समझा जा सकता है। धनी देशों के मजदूर संगठन गरीब देशों के मजदूर संगठनों के साथ साझा मुद्दे तलाशने की कोशिश कर रहे हैं। एशियाई विकास बैंक की बैठक में इंटरनैशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की एक नेता ने कहा कि उनके देश में 18 करोड़ मजदूरों की सदस्यता से उन्हें गरीब देशों के मजदूरों की लड़ाई लडऩे का भी साहस मिलता है। लेकिन जैसे ही उन्होंने आव्रजन में कमी, वैश्विक पूंजी प्रवाह में गिरावट, मुक्त व्यापार को निष्पक्ष बनाने और व्यापार वार्ताओं जैसे मसलों का जिक्र शुरू किया तो यही लगा कि धनी देशों के मजदूरों की आवश्यकता गरीब देशों के श्रमिकों से अलग है। इससे यह भी अहसास हुआ कि धनी देशों में मजदूर संगठनों का पराभव उनके अप्रसांगिक होने के चलते हुआ है।

लेकिन भारतीय श्रम संगठनों का पतन उनके विश्वासघात के चलते हुआ है। असंगठित क्षेत्र के युवा मजदूरों की बड़ी संख्या मूक रही है जबकि कम संख्या वाले बुजुर्ग और संगठित क्षेत्र के कर्मचारी अपनी मांगों को लेकर मुखर रहे हैं। इस वजह से असंगठित मजदूरों के बजाय संगठित क्षेत्र के कर्मचारियों के हितों को प्रमुखता मिलती रही है। इस स्थिति को तीन तरह से सुधारा जा सकता है:संगठित श्रम: भारत में रोजगार की उतनी समस्या नहीं है जितनी वेतन अनुपात को लेकर है। कम उत्पादकता वाली इकाइयों के चलते यहां काम करने वाले मजदूरों का मेहनताना भी काफी कम है। भारत की छह करोड़ औद्योगिक इकाइयों में से केवल 12 लाख ही अनिवार्य सामाजिक सुरक्षा का भुगतान करती हैं जबकि इनमें से केवल 18,000 इकाइयों की ही चुकता पूंजी 10 करोड़ रुपये से अधिक है। विनिर्माण में लगी कंपनियों की रैंकिंग करने पर हमें पता चलता है कि 90 फीसदी कंपनियों की उत्पादकता बाकी 10 फीसदी कंपनियों की तुलना में 24 गुना कम है। भारतीय श्रम संगठनों को वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) और नोटबंदी जैसे कदमों का पुरजोर समर्थक होना चाहिए। कारोबारी सुगमता को बढ़ावा देने वाले कदमों के भी पक्ष में खड़ा होना चाहिए क्योंकि इससे भारत को उद्यमशीलता के लिहाज से कम प्रतिकूल बनाने में मदद मिलेगी। उन्हें विदेशी निवेश की राह के अवरोधों को दूर करने की मांग करनी चाहिए क्योंकि जब तक अधिक रोजगार अवसर सृजित हो रहे हैं, उन्हें इससे फर्क नहीं पडऩा चाहिए कि कंपनी भारतीय है या विदेशी?मजदूर संगठनों को भविष्य निधि और कर्मचारी बीमा योजनाओं के पुनर्गठन की भी मांग करनी चाहिए क्योंकि इनका वर्चस्व होने से कर्मचारियों को उनके धन का अच्छा लाभ नहीं मिल पाता है। भविष्य निधि कोष दुनिया का सबसे खर्चीला सरकारी सिक्योरिटीज म्युचुअल फंड है जबकि दूसरों के मुकाबले भारत में स्वास्थ्य बीमा दावों के निस्तारण के मामले में सबसे खराब स्थिति है। मजदूरों को शिकायत निवारण के लिए पेपरलेस, प्रेजेंसलेस और कैशलेस (पीपीसी) पोर्टल की मांग करनी चाहिए। उन्हें श्रमिकों से संबंधित

अलग-अलग 44 कानूनों की जगह एक श्रमिक संहिता बनाने की मांग करनी चाहिए। इन अच्छे मकसदों के लिए लडऩे के बजाय भारतीय मजदूर संगठन नौकरी बचाए रखने को ही रोजगार के रूप में पेश करने में लगे रहते हैं। शहरीकरण: भारत के केवल 45 शहरों की आबादी 10 लाख से अधिक है जबकि कुल छह लाख में से दो लाख गांवों की औसत आबादी 200 से भी कम है। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के रिकार्डो हॉसमान और एडवर्ड ग्लीसर का मत है कि आर्थिक संरचना और समूहीकरण के चलते शहर नौकरी पैदा करने के लिहाज से चुंबक की तरह हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में संगठित रोजगार की संभावना नगण्य है और वे अब भी पुरानी परंपराओं के जाल में उलझे हुए हैं। सवाल है कि मजदूर संगठनों ने कभी शहरी सुधारों की मांग क्यों नहीं उठाई या फिर वे किफायती आवासीय और सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था को लेकर प्रदर्शन क्यों नहीं करते हैं? दरअसल भारत रोजगार को लोगों के पास ले जाने की स्थिति में नहीं है। लिहाजा लोगों को ही रोजगार के पास ले जाना होगा। अगले 20 वर्षों में देश की कुल जनसंख्या वृद्धि में उत्तर प्रदेश, बिहार और ओडिशा का हिस्सा करीब 40 फीसदी रहने वाला है। ऐसे में श्रम संगठनों को ऐसी शहरी नीतियों के अमल पर जोर देना चाहिए जो सम्मानित और असरदार तरीके से स्वैच्छिक ग्रामीण प्रवास को सुगम बना सकें।कौशल विकास: भविष्य में रोजगार की स्थिति के बारे में अभी से कोई अनुमान लगा पाना लगभग असंभव है। केवल यही कहा जा सकता है कि भविष्य में नवाचार, उच्च जीवन प्रत्याशा और तीव्र तकनीकी विकास के दौर में कौशल विकास ही इकलौता आसरा होगा। इसका अर्थ है कि 10+2+3+2 की मौजूदा शिक्षा प्रणाली को अधिक लचीला, प्रासंगिक और सुधारपरक बनाना होगा। कौशल विकास मंत्रालय के गठन, शिक्षा का अधिकार कानून बनाने और काम करते हुए सीखने की सुविधा देने वाली ऑनलाइन शिक्षा पर लगी पाबंदी हटाने के लिए मजदूर संगठनों ने कोई लड़ाई नहीं लड़ी है। मेहनताना मानवीय पूंजी पर ही निर्भर करता है लेकिन किसी भी राष्ट्रीय श्रम संगठन ने स्कूलों, आईटीआई और कॉलेजों में व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा देने वाले सुधार लागू करने की कोई योजना पेश नहीं की है। श्रम संगठनों को यह सोचना चाहिए कि सूचना पर आधारित श्रम बाजार कीमत आधारित शेयर बाजार से अलग होता है।देश को आजाद कराने में श्रम संगठनों ने भी अहम भूमिका निभाई थी लेकिन आज के श्रमिकों को एक नई तरह की आजादी की जरूरत है। अगर कर्मचारियों के सामने संगठित क्षेत्र में रोजगार के कई विकल्प होने के साथ ही उन्हें अधिक मेहनताना भी मिलता है तो उनके लिए यही आजादी होगी। निश्चित रूप से श्रम संगठनों के लिए यह नया पहलू खुद को बदलने में अधिक प्रेरणादायी साबित होगा।

(लेखकद्वय टीमलीज सर्विसेज से संबद्ध हैं)

Date: 20-02-17

कार्यपालिका आदेश-कानून पर कब हो अदालती दखल?

दुनिया भर में संवैधानिक अदालतों का हस्तक्षेप लगातार देखने को मिल रहा है। अमेरिका में पिछले दिनों एक अदालत ने राष्ट्रपति डॉनल्ड ट्रंप के उस कार्यकारी आदेश पर अस्थायी रोक लगा दी जिसमें सात मुस्लिम-बहुल देशों के नागरिकों का अमेरिका में प्रवेश वर्जित कर दिया गया था। इसी तरह ब्रिटेन के सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि ब्रेक्सिट पर केवल जनमत संग्रह के जरिये फैसला करने के मामले में संसद अपनी जिम्मेदारी से मुंह नहीं मोड़ सकती है। केन्या में भी एक उच्च न्यायालय ने मानहानि में फौजदारी मुकदमा चलाने की मंजूरी देने वाले कानूनों पर रोक लगा दी।

भारत में उच्चतर न्यायपालिका में कार्यपालिका के फैसलों की संवैधानिक समीक्षा की सशक्त और सतर्क संस्कृति रही है। कुछ समय पहले ही उच्चतम न्यायालय ने सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम की धारा 66ए को यह कहते हुए खारिज कर दिया कि इससे स्वतंत्र अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बाधित होने का खतरा है।हालांकि व्यावहारिक स्तर पर किसी कार्यकारी आदेश या विधायी निर्णय पर तत्काल स्थगन आदेश देने

के मामले में भारतीय न्यायपालिका का रिकॉर्ड मिला-जुला रहा है। अगर नया कानून संसद से पारित होता है तो उसकी संवैधानिक वैधता को चुनौती दी जा सकती है। किसी कानून को लागू किए जाने पर तात्कालिक महत्त्व को देखते हुए रोक तो लगाई जा सकती है लेकिन उससे पहले अदालत उसके सभी गुण-दोषों पर विचार करती है। फिर भी, हकीकत तो यही है कि इस तरह का आदेश हासिल कर पाना खासा मुश्किल है।ऐसे मामलों में अक्सर सरकार राष्ट्रीय सुरक्षा, निवेशकों के हित और जनहित जैसे शब्दों का सहारा लेकर जताती है कि न्यायपालिका ने अमुक आदेश पर रोक लगाई तो उसके भयावह नतीजे देखने को मिल सकते हैं। बहरहाल, अदालतें किसी कानून की संवैधानिक वैधता पर अपना फैसला दे सकती हैं और उसे असंवैधानिक भी ठहरा सकती हैं लेकिन किसी नए संशोधन की तुलना में पहले से लागू कानून पर ऐसा निर्णय दे पाना खासा मुश्किल होता है। इसी तरह ऐसे प्रकरण भी देखने को मिलते हैं कि अदालतों ने किसी मामले में स्थगन आदेश दिए बगैर अपने फैसले में उस कानून को निरस्त कर दिया हो। यह एक तरह से ऑपरेशन सफल होने के बावजूद मरीज की मौत हो जाने जैसी स्थिति होती है। मेनका गांधी के पासपोर्ट जब्ती मामले के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। ट्रंप के आदेश पर रोक लगाने वाले अमेरिकी डिस्ट्रिक्ट कोर्ट के न्यायाधीश जेम्स रॉबर्ट ने अपने फैसले के आखिरी पैराग्राफ में विस्तार से न्यायिक भूमिका को परिभाषित किया है। रॉबर्ट के शब्दों में, 'इस अदालत का मौलिक कार्य एक सजग प्रहरी की भूमिका निभाना है लेकिन यह हमारी संघीय सरकार के तीन एकसमान अंगों का भी हिस्सा है। अदालत का कार्य नीतिगत फैसले लेना या किसी खास नीति में निहित बुद्धिमत्ता का परीक्षण करना नहीं है। ये सरकार के विधायिका और कार्यपालिका अंगों के कार्य हैं। इसके साथ ही इस देश के नागरिक भी लोकतांत्रिक नियंत्रण के माध्यम से अपनी भूमिका निभाते हैं। न्यायपालिका और उसके एक अंग के तौर पर इस अदालत का काम केवल यह सुनिश्चित करना है कि अन्य दोनों अंगों के फैसले और कार्य देश के कानून और उससे भी बढ़कर संविधान की भावनाओं के अनुरूप हैं या नहीं। इस अदालत के सामने कार्यपालिका के एक आदेश पर अस्थायी रोक की अर्जी लगाई गई है। भले ही यह एक छोटा सवाल है लेकिन अदालत को इसका अहसास है कि उसके आदेश का कार्यपालिका और देश के नागरिकों पर कितना असर पड़ सकता है। अदालत को लगता है कि उसे अपनी संवैधानिक भूमिका निभाने के लिए इसमें दखल देना ही होगा।'वाशिंगटन और मिनेसोटा राज्यों ने ट्रंप के उस आदेश को अदालत में चुनौती दी थी। ट्रंप ने राष्ट्रपति पद का चुनाव ही मुस्लिमों और शरणार्थियों पर रोक लगाने के वादे के सहारे जीता है। लेकिन उनका फैसला संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप नहीं होगा तो लोकप्रिय होते हुए भी अदालतें रोक लगा सकती हैं।अब जरा भारत का रुख करते हैं।

आधार प्रणाली के गठन का रास्ता साफ करने वाले कानून को संसद की मंजूरी दिलाने के लिए सरकार ने धन विधेयक के रूप में वर्गीकृत कर पेश किया ताकि राज्यसभा के पटल पर चर्चा से बचा जा सके। दरअसल धन विधेयक के रूप में पेश किए गए विधेयकों पर राज्यसभा के पास कोई अधिकार नहीं होता है। किसी विधेयक को धन विधेयक घोषित करने का अधिकार लोकसभा अध्यक्ष के ही पास होता है। लेकिन उच्चतम न्यायालय में उसके इस विशेषाधिकार को चुनौती देने वाली एक याचिका विचाराधीन है। इस संवैधानिक मसले पर उच्चतम न्यायालय का फैसला आने में हो सकता है कि कुछ साल लग जाएं लेकिन तब तक आधार हम सभी के जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन चुका होगा।नोटबंदी पर भी यही कहानी है। केंद्र सरकार ने अचानक ही 85 फीसदी नकदी को चलन से बाहर कर दिया था। वह फैसला काफी कुछ अमेरिकी सरकार के इस फैसले की ही तरह है जिसमें कुछ देशों के नागरिकों के प्रवेश पर अचानक रोक लगा दी गई। नोटबंदी के ऐलान के अगले ही दिन देश भर की कई अदालतों में उसे चुनौती दी गई थी लेकिन किसी भी अदालत ने उस पर स्थगन आदेश नहीं दिया। कार्यपालिका की तरफ से यह दलील दी गई थी कि आतंकवादियों को काले धन का इस्तेमाल करने से रोकने के लिए यह फैसला किया गया है लिहाजा, अदालतों से कुछ और की उम्मीद भी नहीं की जा सकती थी। आखिर में हमें अदालतों से बस ये दिशानिर्देश मिलेंगे कि सरकार और भारतीय रिजर्व बैंक को किस तरह से काम करना चाहिए। और जब ऐसा होगा तो अदालतें असल में कार्यपालिका के कार्यों पर अपनी बुद्धिमत्ता दिखा रही होंगी जबकि अमेरिकी न्यायाधीश रॉबर्ट ने इससे बचने को कहा है।

(लेखक स्वतंत्र विधि परामर्शदाता हैं)

Date: 20-02-17

विलय की चुनौतियां

भारतीय स्टेट बैंक (एसबीआई) पांच सहायक बैंकों के विलय के बाद करीब 37 लाख करोड़ रुपये के परिसंपत्ति आधार के साथ दुनिया के शीर्ष 50 बैंकों में शामिल हो जाएगा। उस स्थिति में एसबीआई की मौजूदगी दुनिया के 36 देशों में हो जाएगी। उसके 50 करोड़ से भी अधिक ग्राहक होंगे और कर्मचारियों की संख्या भी 270,000 हो जाएगी। विलय के बाद एसबीआई भारत के दूसरे बड़े बैंक से करीब पांच गुना बड़ा होगा। इसी के साथ सम्मिलित बही-खाते में सकल गैर-निष्पादित परिसंपत्ति (एनपीए) का हिस्सा बढ़कर करीब 8.7 फीसदी हो जाएगा। लेकिन माना जा रहा है कि लेखांकन अधिक पारदर्शी हो जाएगा जिससे वित्तीय सेहत के बारे में अधिक स्पष्ट तस्वीर सामने आ सकेगी। बहरहाल एसबीआई को बेसल-3 मानदंडों को पूरा करने के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की जरूरत पड़ेगी। सवाल है कि क्या विलय के बाद एसबीआई अधिक सक्षम, कारगर और बेहतर परिचालन वाला बैंक बन पाएगा जिसका वित्तीय स्वरूप भी सशक्त होगा? यह फालतू खर्च में कमी लाने और जरूरत से अधिक कर्मचारियों की संख्या में कटौती जैसे कारकों पर निर्भर करेगा। इस पर भी निर्भर करेगा कि विलय के बाद एसबीआई को विशुद्ध रूप से वाणिज्यिक तरीके से चलाने की इजाजत दी जा रही है या नहीं?नई इकाई अपने खर्चों में कटौती और सहयोजन को तभी अमल में ला सकती है जब सहयोगी बैंकों के कोष का भी विलय कर दिया जाता है।

इसके अलावा ऑडिट प्रक्रिया और कार्यालयों एवं सूचना प्रौद्योगिकी ढांचे को भी समाहित करने की प्रक्रिया पूरी होने से ही बात बनेगी। नई इकाई की शाखाओं की संख्या करीब 23,900 होगी जिसे कम करके 22,500 के स्तर पर लाना होगा। कार्यबल को भी समायोजित करना होगा। इस दिशा में सबसे बड़ा गतिरोध सहयोगी बैंकों के कर्मचारी संगठनों की तरफ से होने वाला विरोध होगा। इन संगठनों ने पहले ही एक साझा मोर्चा बनाकर विलय का विरोध शुरू कर दिया है। बैंक प्रबंधन को इसका समाधान निकालना होगा क्योंकि प्रभावी तरीके से अतिरिक्त खर्च में कटौती किए बगैर नई इकाई आवश्यकता से अधिक विस्तार वाली इकाई बन जाएगी। सार्वजनिक क्षेत्र के किसी भी दूसरे बैंक की तरह एसबीआई को भी राजनीतिक हस्तक्षेप से परे पूरी तरह वाणिज्यिक तरीके से संचालित करने की इजाजत नहीं होने से मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। एनपीए के मामले में सार्वजनिक बैंकों के खराब प्रदर्शन की यह मूलभूत वजह रही है।

विलय के बाद एसबीआई का बड़ा संपत्ति आधार होने से राजनीतिक हस्तक्षेप की आशंका ज्यादा होगी। साधारण तौर पर यही माना जाता है कि कुल बैंकिंग परिसंपत्ति के 10 फीसदी से अधिक हिस्से पर नियंत्रण रखने वाले किसी बैंक के नाकाम होने की बहुत

कम संभावना है। अमेरिका में तो बड़ी व्यावसायिक संस्थाओं के आपसी विलय एवं अधिग्रहण पर रोक लगी हुई है ताकि और भी बड़ी इकाई के नाकाम होने की आशंका को दूर किया जा सके। एसबीआई उस सीमारेखा से परे होगा लिहाजा इसकी गतिविधियों पर बेहद सख्त निगरानी और पर्यवेक्षण की जरूरत होगी। यह विलय भारत के बैंकिंग क्षेत्र के लिए एक परीक्षण भी होगा। अगर यह काम करता है तो दूसरे सार्वजनिक बैंक भी विलय का यही रास्ता अपना सकते हैं। इससे भारत के बैंकिंग क्षेत्र में तीन-चार बड़े संस्थान ही सक्रिय दिखेंगे जिससे कारोबारी सक्षमता बढ़ाने में भी मदद मिलेगी। हालांकि यह नहीं भूलना चाहिए कि विलय की यह योजना एक ही स्तर के बैंकों को मिलाने से जुड़ी है और मध्यम स्तर के बैंकों का विलय थोड़ा पेचीदा हो सकता है। एसबीआई और सहयोगी बैंकों की तुलना में मध्यम दर्जे के बैंकों में काफी विविधता हो सकती है। उस स्थिति में मध्यम स्तर के बैंकों का विलय करा पाना बैंकों के सुदृढ़ीकरण की दिशा में सरकार की प्रतिबद्धता की असली परीक्षा होगी।

THE HINDU

Date: 19-02-17

Working on the ISRO principle

Its successes demonstrate that it is possible to create high-performing public sector organisations

Rarely is an agency of the government of India associated with the development of cutting-edge technology and global standards in execution. The Indian Space Research Organisation (ISRO) is an exceptional case. In fact, by launching 104 satellites from a single rocket on Wednesday, it has now set the global standard in a field (or more accurately space) in which only a few nations even dare to dabble. But what is it about ISRO that makes it stand for excellence when a plethora of government agencies suffer from severe challenges in terms of capacity and execution? What makes ISRO tick could help show us the way to create other high-performing government organisations.

More autonomy

For a start, ISRO is fortunate that it reports to the Prime Minister and his office rather than a line ministry. This has been critical to its success. In line ministries, ministers and bureaucrats have a tendency to micromanage their turf, and this includes autonomous bodies, agencies and enterprises. More often than not, there will be a senior official along with a set of junior officials who have direct charge of supervising the affairs of an agency. The Prime Minister's Office (PMO) works differently given that its remit cuts across all government departments. Its officials would certainly not have the time or the mindspace to supervise the affairs of a single institution. ISRO, therefore, has a real autonomy that most other government agencies do not.

Location matters

The geographical location of the organisation also matters in terms of creating an appropriate ecosystem to nurture excellence. A number of critical government-run organisations and enterprises are either headquartered in Delhi (because it's the seat of the Union Government) or are in places that have had some political salience to the ruling dispensation at the time they were set up. Neither scenario may be optimal from the point of view of an agency. Being located in Delhi will leave it particularly vulnerable to the diktats of the parent ministry and the slow-moving, cautious culture of an omnipresent bureaucracy. And a politically salient location outside Delhi may not have the ecosystem to feed knowledge creation and build capabilities. ISRO, headquartered in Bengaluru, is distant from Delhi and immune from the capital's drawbacks. More importantly, it is located in the appropriate geography in what is India's science and technology hub. It has the right ecosystem to attract talent and build its knowledge capabilities more than most government agencies do.

Needless to say, human capital is critical to the success of an organisation. Unlike many government agencies which are staffed by generalists, ISRO is staffed by specialists right from its technocratic top management. ISRO is also more agnostic than most government agencies about cooperating with and working with the best in the private sector. The building blocks of many of ISRO's successes come from outside the government system.Learning the right lessons from ISRO's example is crucial for India. The conventional view is that the government is poor in project execution and if one looks at the state of infrastructure or of the quality of public services that is not an unreasonable conclusion to reach. What ISRO shows is that it is possible, indeed feasible, for the government to build high-performing organisations/agencies. This is not an argument for a big government. Instead, it is an argument for building top quality institutions in a limited number of areas where the government's role cannot be substituted by the private sector. Cutting-edge research and development in spheres where there may not be ready profits is one area the government should focus on building ISRO-like institutions. Defence could be one such. A completely reformed Defence Research and Development Organisation based out of Pune or Bengaluru (not Delhi) which reports to the PMO and which actively collaborates with the private sector would be worth considering. Or a central vaccine agency, based in Ahmedabad or Pune, which focusses on solutions to under-researched diseases.

Of course, not every government organisation will be engaged in cutting-edge technology breakthroughs nor can every organisation report to the Prime Minister. Still, independence from line ministries is important for a high performing organisation.The trouble is that it is not easy to change the nature of institutions by tinkering with them. There is a path dependency in the way institutions evolve. The creation of high performing government bodies requires starting from scratch and focussing on a few basics: real autonomy from ministries, right geographical location/appropriate ecosystem, a team of specialists, partnership with the private sector and operating only in spheres where there is no alternative to government. The creation of a handful of such agencies could have a transformative effect.

Dhiraj Nayyar is Officer on Special Duty and Head, Economics, Finance and Commerce, NITI Aayog. The views expressed are personal